साधुचर्या की प्रमुख पारिभाषिक शब्दावलि अर्थ और अभिप्राय

–श्रीमती डॉ. अलका प्रचंडिया
(एम. ए. (संस्कृत), एम.ए. (हिन्दी), पी-एच. डी.)

आस्था और व्यवस्था की दृष्टि से श्रमण संस्कृति का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्यक् श्रम-साधना पर आधृत स्वावलम्बन और गुण प्रधान आस्था श्रमण संस्कृति का मुख्य लक्षण है। इस संस्कृति से अनुप्राणित होकर प्रत्येक प्राणी अपने श्रम के द्वारा स्वयं कर्म करता है और अपने किए गए कर्म-फल का स्वयं ही भोक्ता होता है। इस प्रसंग में उसे किसी सत्ता अथवा शक्ति की कृपा की आकांक्षा कभी नहीं रहती। किसी की कृपा का आकांक्षी होने पर उसे स्वावलम्बी बनने में बाधा उत्पन्न होती है। श्रमण सदा स्वावलम्बी होता है। वह अपनी सूझ और समझ पूर्वक अपनी ही श्रम-साधना के बलबूते पर उत्तरोत्तर आत्म-विकास को उपलब्ध करता है। इस प्रकार श्रमण स्वयमेव चरम पुरुषार्थ का सम्पादन कर स्व-पर कल्याण में प्रवृत्त होता है।

स्वावलम्बन प्रधान आस्था की अपनी व्यवस्था होती है। इस व्यवस्था में किसी सत्ता अथवा शक्ति की वंदना अथवा उपासना करने का कोई विधान नहीं है। आत्मिक गुणों का स्मरण करना तथा उन्हें जान और पहिचान कर उनकी वंदना और उपासना करना उसे सर्वथा अभीष्ट रहा है। इस प्रक्रिया से साधक अपने अन्तरंग में प्रतिष्ठित आत्मिक शक्ति अथवा सत्ता के गुणों का जागरण और उजागरण करता है। अपने आत्मिक गुणों को अनुभव कर वह स्वयं को साधता है और साधुचर्या का अनुपालन करता है। साधुचर्या का आत्म विकास तीन चरण में सम्पन्न होता है–यथा

१. साधु चरण
२. उपाध्याय चरण
३. आचार्य चरण

साधु के तीन रूप पंच परमेष्ठी में अन्तर्भुक्त हैं। इनकी वंदना करने से व्यक्ति साधक के आत्म-विकास की स्वयमेव वन्दना है।

साधुचर्या आत्मिक साधना की प्राथमिक प्रयोगशाला है। यहाँ जागतिक जीवन से विरक्त होकर साधक अपनी साधना सम्पन्न करता है। साधुचर्या से सम्बन्धित अनेक शब्दावलि आज प्रायः लाक्षणिक हो गयी है।

शब्द एक शक्ति है और अभिव्यक्ति उस शक्ति का परिणाम। साधु-चर्या का प्रत्येक शब्द आज अपनी आर्थिक सम्पदा की दृष्टि से विशिष्ट हो गया है। उस शाब्दिक अर्थ वैशिष्ट्य की अपनी परिभाषा है। उसी शब्दावलि से सम्बन्धित यहाँ कुछेक शब्दों की परिभाषा को स्पष्ट करना वस्तुतः हमारा मूलाभिप्रेत है। विवेच्य शब्दावलि की संक्षिप्ति तालिका निम्नलिखित है–यथा

१. गोचरी	२. दीक्षा
३. प्रतिक्रमण	४. मुखवस्त्रिका
५. मंगली पाठ	६. रजोहरण
७. वर्षावास	८. समाचारी
९. सिंगाड़ा	१०. संथारा

अब उपर्यंकित अकारादि क्रम से तालिका का क्रमशः अध्ययन-अनुशीलन करेंगे।

गोचरी–गोचरी वस्तुतः आगमिक शब्द है। इसका आदिम रूप 'गोयर' है। गोयर का दूसरा रूप गोयरग्ग भी प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में उपलब्ध है। इसका अर्थ है गाय की तरह भिक्षा प्राप्त्यर्थ परिभ्रमण करना। गाय घास चरते समय स्वयं जाग्रत रहती है। वह घास को इस प्रकार चरती है ताकि उसका मूलवंश सुरक्षित रहे। इसी प्रकार श्रमण-साधु किसी भी गृहस्थ के यहाँ जाकर उसे बिना कष्ट दिए यथायोग्य भिक्षा ग्रहण करता है।

साधु के चित्त में गोचरी प्राप्त्यर्थ जाते समय सम्पन्न अथवा विपन्न, कुलीन अथवा मलीन गृहस्वामी का विचार नहीं उठता। वह सरस और विरस भोज्य पदार्थ का भी ध्यान नहीं करता। वह निर्विकार भाव से शुद्धतापूर्ण भोज्य सामग्री को भ्रमर की भाँति अल्पमात्रा में ग्रहण करता है, ताकि किसी गृहस्थ पर उसके गृहीत आहार का किसी प्रकार से भार-भाव उत्पन्न न होने पावे।

साधु अथवा श्रमण मन-शास्त्र का ज्ञाता होता है। उसे अपने नियमानुकूल संस्कृति से अनुप्राणित भोजन ग्रहण करना होता है। अन्य शुद्धियों के साथ भाव-शुद्धि सर्वोपरि है। गृहपति के अन्तर्मानस को वह सावधानी पूर्वक पढ़ता है। अन्यथा भाव होने पर वह उसके यहाँ गोचरी हेतु प्रवेश नहीं करता। दर असल श्रमण साधु की भिक्षा पूर्णतः अहिंसक और विशुद्ध होती है। उसके द्वारा बयालीस दोषों से रहित भोजन ही ग्रहण किया जाता है।

दीक्षा–दीक्षा शब्द में समस्त इच्छाओं और वासनाओं के दहन करने का विधान विद्यमान है। जागतिक जीवन की नश्वरता तथा निस्सारता के प्रति वैराग्यमुखी प्राणी दीक्षा के लिए दस्तक देता है। उसके मनमानस में संसार और संसारीजनों के प्रति आसक्ति एवं मोह के त्याग का भाव उत्पन्न होता है।

प्रश्न यह है कि आर्हती दीक्षा ग्रहण करने की पात्रता किसमें है? आगम के आदेशानुसार जिसमें वैराग्य की तीव्र भावना हो वह मुमुक्षु सहज रूप में दीक्षा धारण कर सकता है। प्राचीन ग्रन्थों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक संदर्भ उपलब्ध हैं जब पतित से पतित माने जाने वाले जिज्ञासुओं ने दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को पवित्र और पावन बनाया है। दीक्षा के लिए वय की दृष्टि से भी कोई विशेष निर्देश नहीं दिया गया है। चाहे बालक हो चाहे हो (तरुण) वयस्क फिर चाहे हो वृद्ध, जिसमें भावों की प्रबलता और वैराग्य का बलवती वेग हो वही साधकेच्छु दीक्षा ग्रहण कर सकता है।

भारत की अन्य अनेक संस्कृतियों में संन्यास लेने के लिए जीवन का उत्तरार्द्ध समय अत्यन्त उपयोगी और सार्थक स्वीकारा गया है। जैन संस्कृति ने इस दिशा में एक उत्तम उत्क्रान्ति उत्पन्न कर दी। दीक्षा लेने के लिए यहाँ वयस्क अथवा तरुण काल ही श्रेष्ठ और श्रेयस्कर निरूपित किया है। इस समय शारीरिक ऊर्जा उत्कर्ष को प्राप्त होती है तभी इन्द्रियों का उपयोग भोग से हटाकर योग की ओर रूपान्तरित करना चाहिए। जब इन्द्रियाँ शिथिल हों तब साधना करने की सम्भावना शेष नहीं रहती और संयम का भी संयोग प्रायः रहता नहीं, विवशता का परिणाम संयम नहीं, कहा जा सकता। इसीलिए आगम साहित्य में ही नहीं परवर्ती साहित्य में भी बाल दीक्षा का निषेध नहीं है।

दर असल बुभुक्षु व्यक्ति नहीं अपितु मुमुक्ष व्यक्ति ही दीक्षा ग्रहण करने की पात्रता रखता है जिसमें चंचल चित्त की एकाग्रता उत्पन्न करने की शक्ति और सामर्थ्य विद्यमान हो। उसे अपनी खोज स्वयं करनी होती है वह किसी यात्रा का अनुकरण कर लाभान्वित नहीं हो सकता। जागतिक जीवन-उत्कर्ष के लिए पराई नकल की जा सकती है पर आध्यात्मिक उन्नति और उन्नयन के लिए किसी प्रकार की नकल उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। इसके लिए साधक को अपने अन्तरंग की ऊर्जा को उद्दीप्त करना होता है। अन्तरंग का अन्वेषण अथवा अन्तर्यात्रा तेज को तेजस्वी बनाता है। दीक्षा इसी काम को सम्पन्न करती कराती है।

प्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण साधु चर्या का महत्त्वपूर्ण शब्द है। इसके अभ्यास करने से साधक का विचलित चरण सदाचरण में परिणत हो जाते हैं।

प्रति+क्रमण शब्दों के संयोग से प्रतिक्रमण शब्द का गठन हुआ है। प्रति शब्द का अर्थ है—प्रतिकूल और क्रमण शब्द का तात्पर्य है—पद निक्षेप। प्रतिकूल अर्थात् प्रत्यागमन, पुनः लौटना ही वस्तुतः प्रतिक्रमण है। प्रमाद तज्जन्य अज्ञानतावश जब साधक अपनी स्वभाव दशा से लौट कर विभाव दशा में चला जता है और पुनः चिन्तवन कर जब वह पुनः स्वभाव सीमाओं में प्रत्यागमन करता है तो वह कहलाता है—प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण वस्तुतः पुनरावृत्ति है। सूक्ति रूप में कहें तो कहा जा सकता है—पाप से आप में लौटना प्रतिक्रमण है।

आगम के वातायन से प्रतिक्रमण जन्य अनेक शब्द निसृत हुए हैं, जिनमें वारणा, प्रतिचरण, प्रतिहरणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, तथा शुद्धि आदि अधिक उल्लेखनीय हैं। इन सभी पर्यायवाची शब्दों का प्रयोजन और प्रयोग प्रायः समान ही है—अशुद्धि से विशुद्धि की ओर उन्मुख होना। आक्रमण में बाहरी आग्रह है जबकि प्रतिक्रमण में आन्तरिक अनुग्रह।

प्रयोग और उपयोग की दृष्टि से प्रतिक्रमण के दो भेद किए जा सकते हैं—

१. द्रव्य प्रतिक्रमण २. भाव प्रतिक्रमण

द्रव्य प्रतिक्रमण वह जिसमें साधक एक स्थान पर आसीन होकर बिना उपयोग के यश प्राप्ति की अभिलाषा से प्रतिक्रमण करता है। भाव प्रतिक्रमण में साधक अन्तर्मानस में अपने कृत पापों के प्रति ग्लानि अनुभव करता है। वह इस गिरावट के लिए चिन्तन करता है, भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति न हो अतः वह दृढ़तापूर्वक संकल्प करता है ताकि भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति न हो। भाव प्रतिक्रमण की उपयोगिता इतस्ततः असंदिग्ध है।

जीवन मांजने की कला का अपरनाम है—प्रतिक्रमण। सावधानी पूर्वक दिन भर रोजनामचा—क्रियाकलाप का तल पट—तौलनाप करके साधक अभाव को जानता है और उचित सुधार और उद्धार कर वह सद् वृत्तियों का अभ्यास करता है ताकि जीवन शोधन में कोई अभाव शेष न रह जाय। प्रतिक्रमण में अपनी गिरावट उसके परिहार का पुनर्विचार तथा विकास का विवेकपूर्वक आचरण करना होता है।

मुखवस्त्रिका—श्वेताम्बर साधु समुदाय के अन्तर्गत दो प्रमुख परम्पराएँ हैं—स्थानकवासी और दूसरी है तेरापंथी। ये दोनों साधु परम्पराएँ मुखवस्त्रिका का प्रयोग और उपयोग करती हैं। यह वस्त्रिका या पट्टिका श्वेत रंग की होती है।

श्रमण-साधु-जीवन के प्रत्येक चरण में अहिंसा की प्रधानता रहती है। शरीर के भीतर गया श्वांस प्रायः उष्ण हो जाता है और जब वह वार्तालाप के साथ बाहर निकलता है तब बाहरी शीतल वातावरण में वायुकायिक जीवों पर अपनी ऊष्मा से प्रहार करता है। उनको निरर्थक कष्ट होता है। किं बहुना कभी-कभी विराधना भी हो जाती है। एक तो इसलिए श्रमण 'मुँहवस्त्रिका' का प्रयोग करता है।

दूसरे साधु अटवीन्मुख होता है। वह सदा पदयात्री रहता है अतः मार्ग में रजकण उनके मुँह द्वार से भीतर चले जाते, हैं जो स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद सिद्ध होते हैं। यह 'मुँह वस्त्रिका' का प्रयोग इस दिशा में अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त चिन्तन, ध्यान और आराधना काल में भी इसका प्रयोग एकाग्रता में सहायक सिद्ध होता है।

मंगली पाठ—श्रमण अथवा साधु चर्या सदा स्व-पर कल्याण में प्रवृत्त रहती है। तीर्थंकर-भगवन्तों द्वारा निर्दिष्ट देशना का अभ्यास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातत्य से वह स्व कल्याण तो करते ही हैं किन्तु पर-कल्याण हेतु वे आगम की आँख से देखकर कल्याणकारी बातों का उपदेश-निर्देश भी दिया करते हैं। मंगली पाठ आशीर्वचन की भाँति उत्तम उद्बोधन स्वरूप है।

संसार में चार ही मंगल उत्कृष्ट हैं। अरिहंत मंगल हैं, सिद्ध मंगल हैं, साधु मंगल हैं और केवली द्वारा प्रज्ञप्त धर्म मंगल है।

लोक में चार पदार्थ सर्वश्रेष्ठ है–अरिहंत श्रेष्ठ हैं, सिद्ध श्रेष्ठ हैं, साधु श्रेष्ठ हैं और केवली द्वारा प्रज्ञाप्त धर्म श्रेष्ठ है।

लोक में चार ही श्रेष्ठ शरण हैं जिनकी शरण में जाता हूँ। अरिहंतों की शरण में जाता हूँ, सिद्धों की शरण में जाता हूँ, साधुओं की शरण में जाता हूँ, और केवली द्वारा प्रज्ञप्त धर्म की शरण में जाता हूँ।

इस अनुपाठ-अनुगूंज के साथ साधु भक्तों को भगवंत महावीर को मंगल रूप स्वीकारता है, महामनीषी गौतम गणधर को मंगल रूप मानता है तथा अन्त में आचार्य स्थूलभद्र तथा जैन धर्म को मंगल रूप का स्तव करता है। इस पाठ के साथ वह भक्त के कल्याण की मंगल कामना करते हैं। श्रमण चर्या में, 'मंगली पाठ' एक आवश्यक अंग है।

श्रमण या साधु के आत्म साधना के लिए उत्तम उत्कृष्ट मंगल है तप। श्रमण-श्रमणत्व स्वीकार कर सर्वप्रथम आगम साहित्य का गहन पाठ करता है। तत्पश्चात् उत्कृष्ट तपःकर्म का आचरण करता है। इसी से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

रजोहरण–श्रमण समुदाय के संक्षिप्त किन्तु मुख्य उपकरणों में रजोहरण एक है। यह शब्द दो उपशब्दों से गठित है–रज तथा हर। धूल कणों को दूर करने का उपकरण।

रजोहरण का निर्माण पाँच प्रकार के धागों के योग से बनता है। उनके नाम निम्न प्रकार से हैं–

औरणिक

औष्ट्रिक

सानक

बच्चक-चिप्पक

मुञ्ज-चिप्पक

औरणिक वस्तुतः ऊन के धागे कहलाते हैं। औष्ट्रिक से तात्पर्य ऊँट के बालों के धागे। सानक शब्द का सम्बन्ध सन से है। सन की छाल के धागे। वच्चक चिप्पक एक तृण विशेष की कुट्टी से निर्मित धागे तथा मुञ्ज-चिप्पण से तात्पर्य मूँज। इसके कुट्टी से निर्मित धागे। इन धागों से रजोहरण का निर्माण किया जाता है। जो पदार्थ जिस क्षेत्र में सहज रूप से उपलब्ध हो जाता है, उसी के द्वारा इस उपकरण का निर्माण करने का विधान है। आधुनिककाल में अधिकांशतः कपड़े के धागों अर्थात् सूती धागों और ऊन के धागों का रजोहरण तैयार किया जाता है। एक चिकनी लकड़ी में इन धागों को कलात्मक ढंग से बनाया जाता है।

बैठते, अथवा लेटते समय स्थान को चीउंटी अथवा छोटे-छोटे कृमि-कीटो की रक्षार्थ रजोहरण का उपयोग किया जाता है। चलते समय मार्ग में यदि किसी प्रकार के जीवों की विराधना होने की सम्भावना होती है तो रजोहरण के द्वारा श्रमण उनकी रक्षा करता है।

वर्षावास (चौमासा)–श्रमण अथवा साधु स्थान-स्थान पर विचरणशील जीवन व्यतीत करता है। साधु प्रायः पदयात्री होता है। उनमें स्थान के प्रति मोह जाग्रत न हो अतः साधु एक स्थान पर अधिक काल तक प्रवास न करने का विधान है। एक ही स्थान पर वर्षावास में चार माह की दीर्घाति दीर्घ अवधि तक प्रवास कर सकता है। इसी अवधि तक वास को वर्षावास कहते हैं। वर्षावास को वास-वास, चातुर्मास, पढम समोसरण ठवणा, जेट्ठोग्गह भी कहा जाता है।

एक स्थान पर चार मास तक निवास करने से इसे 'बास-बास' कहा गया है। वर्षा ऋतु में एक ही स्थान में रहने से इसे चातुर्मास कहते हैं। प्रावृट ऋतु मे चार महीने की दीर्घ अवधि तक एक ही स्थान पर प्रवास रखने पर 'पढ़म समोसरण' कहा जाता है। ऋतुओं की विभिन्न मर्यादाओं के कारण लम्बी अवधि तक एक ही स्थान पर ठहरने पर इसे ठवणा भी कहा जाता है।

दर असल साधु क्षेत्रावग्रह करता है। वर्षाकाल में चार मास का एक साथ क्षेत्र अवग्रह करने से ''जेट्ठोग्गह' कहा जाता है। इसका हिन्दी रूप है 'ज्येष्ठावग्रह'।

वर्षावास श्रावण कृष्णा पंचमी, श्रावणा कृष्णा दशमी तथा श्रावण कृष्णा पंचदशमी अर्थात् अमावस्या तक वर्षावास स्थिर करना होता है।

वर्षावास में साधु प्रायः विहार नहीं करता किन्तु यदि ज्ञान के लिए, दर्शन के लिए, चारित्र के लिए, आचार्य और उपाध्याय के लिए, आदेश पर इनकी वैयावृत्य के लिए साधु स्थान परिवर्तन कर सकता है। प्राकृतिक द्वन्द्व और दुकाल-प्रकोप तथा धर्म संकट के अवसर पर भी स्थान त्यागने का विधान है। वर्षावास की अवधि व्यतीत हो जाने पर भी यदि विहार करने योग्य परिस्थिति न हो तो साधु संचार-व्यवस्था न होने तक उसी स्थान पर और रह सकता है। वर्षावास पंच समितियों से सम्बन्धित तेरह प्रकार की सुविधाओं से सम्पृक्त क्षेत्र को चयन करना श्रेयस्कर है।

समाचारी–समाचारी वह विशिष्ट क्रिया-कलाप है जो साधु-चर्या के लिए मौलिक नियमों की भाँति अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य सत्कर्म है। श्रमण अथवा साधु आचार को मूलतः दो भागों में विभक्त किया गया है–

१. व्रतात्मक आचार। २. व्यवहारात्मक आचार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रतात्मक आचार वस्तुतः शाश्वत महाव्रत है। यह साधुजीवन को स्वावलम्बी बनाता है। इससे आत्मिक आलोक प्रायः उद्दीप्त होता है। व्यवहारात्मक आचार परस्पर में पूरक की भूमिका का निर्वाह करता है। विचार जब व्यवहार में चरितार्थ होता है तब सामाचारी का जन्म होता है। श्रमण अथवा साधुचर्या की समस्त प्रवृत्तियाँ वस्तुतः सामाचारी शब्द में समादिष्ट हो जाती हैं। सामाचारी साधु समुदाय अथवा संघीय जीवन जीने की श्रेष्ठ कला है।

आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दना, इच्छाकार, मिच्छाकार, तदाकार, अभ्युत्थान तथा उपसम्पदा नामक दश विधि प्रयोग समाचारी के लिए आर्ष ग्रन्थों में उल्लिखित है।

एक पूर्ण दिवस दो भागों में विभक्त है–रात और दिन। रात और दिन क्रमशः चार-चार प्रहरों में विभक्त है। श्रमण समाचारी का निम्न क्रम से विभाजन किया गया है। श्रमण अथवा साधु दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में आहार और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय में प्रवत्त हो जाता है। दिन की भाँति रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा-विश्राम और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करने का निर्देश है।

इस प्रकार श्रमण अथवा साधु की चर्या का विकास सामाचारी पर निर्भर करता है। इससे उसके जीवन में अनेक सद्गुणों की अभिवृद्धि होती है।

सिंगाडा–श्रमण अथवा साधु संघ की एक अपनी आचार-संहिता होती है। संघ का प्रधान होता है–आचार्य। आचार्य का निदेश पाकर साधु-समाज पूरे देश की परिक्रमा लगाता है। साधु पदयात्री होते हैं। वे भगवंत महावीर के कल्याणकारी मंगल उपदेशों का जन-साधारण में प्रचार-प्रसार किया करते हैं। उनकी यात्रा का मूल अभिप्रेत जन-जीवन में सदाचार का प्रवर्त्तन करना रहा है। आचार्य श्री के साथ निश्चित साधु-साध्वी रहा करते हैं, शेष सभी साधुओं की तीन-तीन की टुकड़ी आवश्यकतानुसार अधिक या कम भी बनायी जाती है जिसमें एक साधु अथवा साध्वी वरिष्ठ होता है। वही उस टुकड़ी का प्रमुख होता है। यह टुकड़ी ही वस्तुतः सिंगाड़ा कहलाती है।

यद्यपि सिंगाड़ा का प्रमुख होता है वरिष्ठ साधु तथापि किसी बात का निर्णय तीनों साधुओं से परामर्श करने के पश्चात ही किया जाता है। सिंगाड़ा प्रमुख की आज्ञा प्राप्त किए बिना कोई साधु बाहर आ-जा नहीं सकता है। उसकी आज्ञा अथवा अनुमति प्राप्त करके ही अन्य साधु गोचरी अथवा अन्य किसी कार्य से बाहर विहार करता है।

सिंगाड़ा की संस्कृति अनुशासन प्रधान होती है। लोक अथवा समाज को उपदेश देने का शुभ अवसर सिंगाड़ा प्रमुख को प्राप्त होता है। उसी के निदेश से अन्य साधु अपने-अपने विचार व्यक्त किया करते हैं। सिंगाड़ा प्रमुख सामाजिकों को आशीर्वचन के रूप में 'मंगली पाठ' सुनाया करता है।

संथारा–जन्म-जीवन की अत्यन्त हर्षप्रद घटना है। मृत्यु जीवन की अत्यन्त दुःखद और शोक प्रद घटना है। जन्म महोत्सव संसार की सभी संस्कृतियाँ सहर्ष मनाती हैं। केवल श्रमण संस्कृति है जहाँ मृत्यु को भी महोत्सव के रूप में आनन्दपूर्वक मनाया जाता है।

मृत्यु एक महत्त्वपूर्ण कला है। पंडितमरण को श्रेष्ठ मरण कहा गया है। विवेकपूर्वक अत्यन्त निराकुल अवस्था में अपनी जागतिक पर्याय को छोड़कर नई पर्याय को ग्रहण करने की आकांक्षा को लेकर पौद्गलिक शरीर-पर्याय को त्यागना अथवा उससे प्राणों का बहिर्गमन करना मृत्यु महोत्सव है।

पंडितमरण वस्तुतः सिद्धान्त है। मृत्यु की व्यावहारिक प्रक्रिया का नाम है–संथारा! यह आगमिक शब्द है। इस शब्द का अभिप्रेत है–दर्भ का बिछौना। संथारे की पूर्ण प्रक्रिया को संक्षेप में निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है–

संथारा ग्रहण करने से पूर्व साधक को संल्लेखना व्रत का पालन करना आवश्यक होता है। इसमें आहार अर्थात् जल-पान क्रमशः त्यागकर शरीर की पुष्टता को कृश किया जाता है। अपनी आयु कर्म की अवधि का ज्ञान होने पर सल्लेखना व्रत लेने का विधान है। साधारण संसारी इस महान व्रत का पालन नहीं कर पाता। श्रमण अथवा सुधी साधु द्वारा ही संल्लेखना और संथारा का उपयोग किया जाना सम्भव है।

सुधी साधक अपने जीवन की आखिरी अवस्था में निरवद्य शुद्ध स्थान की खोज करता है। उसी स्थान पर वह अपना आसन जमाता है। दर्भ, घास, पराल आदि में से किसी एक का संथारा अर्थात् बिछौना बिछाया जाता है। साधक पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुंह करके बैठता है। इसके उपरान्त मारणान्तिक प्रतिज्ञा की जाती है। नमस्कार मंत्र का तीन वार अनुपाठ करते हैं। वंदना, इच्छाकारेणं, तस्स उत्तरी करणेणं, लोगस्स का पाठ कर भक्त प्रत्याख्यान किया जाता है। साथ ही चारों आहार का त्याग, अठारह पाप स्थानों का त्याग तथा शरीर के प्रति समस्त मोह-ममत्व का त्याग कर समाधिमरण को वरण किया जाता है।

उपर्यंकित अध्ययन और अनुशीलन के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि श्रमण अथवा साधु की जीवन चर्या को समझने के लिए उससे सम्बन्धित सम्पूर्ण शब्दावलि का प्रयोग और प्रयोजन समझना अत्यन्त आवश्यक है। इन शब्दों की लाक्षणिकता का वैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए संक्षिप्त अध्ययन का मूल अभिप्रेत रहा है।

मंगल कलश
३९४, सर्वोदय नगर
आगरा रोड, अलीगढ़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org